

हैसियत की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति
The International Politics of Status

रोहन मुखर्जी

Rohan Mukherjee

November 17, 2014

हाल ही में *न्यूयॉर्क टाइम्स* में प्रकाशित लेख में पंकज मिश्र ने आधुनिक हिंदू भारतीय मानसिकता को “उत्पीड़न और अंधराष्ट्रीयता” के रंग भरकर दिखाने की कोशिश की है और यह तर्क दिया है कि “बहुत बड़े इलाके में फैले हुए और पूरी तरह से वैश्विक मध्यमवर्गीय हिंदू समुदाय के अनेक महत्वाकांक्षी सदस्य गोरे पश्चिमी लोगों की तुलना में ऊँची हैसियत की अपनी माँग को लेकर कुंठित महसूस करने लगे हैं.” मिश्र का यह विवादित बयान न केवल समकालीन राजनीति को समझने के लिए बहुत उपयुक्त है बल्कि इसमें भारतीय मानसिकता के उन तत्वों को भी उजागर किया गया है जो भारतीय मानस में रचे-बसे हैं. अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी स्वायत्तता को बनाये रखने में मगन रहने के साथ-साथ भारत अपनी सत्ता की हैसियत के प्रति भी पूरी तरह सचेत है. (इन दोनों लक्ष्यों को एक साथ साध पाना आज की दुनिया में भारत के लिए निरंतर मुश्किल होता जा रहा है). कई लेखकों ने “सभ्यतापरक अपवाद”, “नैतिक महानता”, “बृहत्तर नैतिक मिशन” और “वैश्विक नेतृत्व की भूमिका” की इच्छा के संबंध में भारत की मनोवृत्ति को उजागर किया है. अगर दो ठूक बात की जाए तो कहा जा सकता है कि भारत यह महसूस करता है कि विश्व को कुछ महत्वपूर्ण दे पाने की उसमें विशेष क्षमता है और इसलिए उसकी भूमिका भी अग्रणी होनी चाहिए. प्रताप भानु मेहता यह मानते हैं कि भारत को भरोसा है कि उसकी शक्ति का सबसे विशाल स्रोत यह है कि भारत देश आर्थिक दृष्टि से सक्षम लोकतंत्र का उदाहरण है.

मिश्र का यह बयान आंशिक रूप में ही सही माना जा सकता है- भारत का उच्चवर्गीय हिंदू ही केवल हैसियत को लेकर सचेत नहीं है और भारत ही एकमात्र ऐसा देश नहीं है जिसकी ऐसी सोच है. पूरे इतिहास में जैसे-जैसे देशों का उत्थान और पतन होता है, उनके लिए रैंक महत्वपूर्ण होने लगता है और हैसियत के पायदान पर नीचे वर्गीय देश ऊपर के देशों के प्रति ईर्ष्या, आक्रोश और चुनौती की भावना से ग्रस्त होने लगते हैं. इस गतिशील तत्व को समझने के लिए सन् 1947 से भारत सहित उदीयमान शक्तियों की विदेश नीति को पूरी तरह से समझना बेहद ज़रूरी है.

रॉबर्ट गिलपिन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इस तत्व को “प्रतिष्ठा का पदक्रम” मानते हैं. उनका तर्क है कि जैसे ही किसी देश का उत्थान और पतन होता है, उसकी प्रतिष्ठा भी दाँव पर लग जाती है, क्योंकि कोई भी समूह या लोग ऐसे नहीं हैं जो अब तक की अपनी प्रतिष्ठा के स्तर से नीचे आने के लिए इच्छुक हों और उन लोगों के लिए तो यह और भी सही है जो अब तक मोटे तौर पर बराबरी की हैसियत में रहे हों. जब उनका पदक्रम बिल्कुल स्पष्ट हो तो सामाजिक मनोविज्ञान में हुए प्रयोगात्मक शोध के अनुसार कम हैसियत वाले कुछ लोग कम से कम प्रतीकात्मक तौर पर तो बड़ी हैसियत वाले समूह में शामिल होने का प्रयास करते ही हैं. वे बड़ी हैसियत वाले लोगों की नकल करके

उनके मूल आधार को ही चुनौती देने का प्रयास भी कर सकते हैं और अपनी खास ताकत को उजागर करने के लिए हैसियत के मूल तत्वों को ही फिर से परिभाषित करने का प्रयास करते हैं।

सभी देशों में सामूहिक गतिशीलता की भावना समान रूप में मौजूद होती है और उदीयमान शक्तियाँ अपनी विदेश नीति में अपने देश की हैसियत के प्रति खास तौर पर सशक्त रहती हैं। जब उनके प्रति महाशक्तियों का आकर्षण बढ़ता है तो उनके समुदाय और नेता प्रतिष्ठा के वैश्विक पदक्रम में अपनी हैसियत को लेकर चिंतित रहने लगते हैं। वे बड़ी हैसियत वाले लोगों का अनुकरण कर सकते हैं, या उनके मूल आधार को चुनौती देने का प्रयास कर सकते हैं या अपनी खास ताकत को उजागर करने के लिए हैसियत के मूल तत्व को ही फिर से परिभाषित करने का प्रयास कर सकते हैं। (अर्थात् यही तीन स्पष्ट रणनीतियाँ हैं।)

बीसवीं सदी के आरंभ में जर्मनी महाशक्तियों को चुनौती देने लगा। कैसर विल्हेम II द्वारा अपनाई गई *वैल्टपॉलिटिक* (या “विश्वनीति”) की नीति के अनुसार जर्मनी ने व्यावहारिकता के मद्देनज़र ऑटो वॉन बिस्मार्क के व्यवहारवाद को भी पीछे छोड़ दिया जिसके कारण जर्मनी ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारी उन्नति की थी। कैसर की वैश्विक महत्वाकांक्षा के कारण ही जर्मनी ने बड़े-बड़े देशों को अपना दुश्मन बना लिया था और स्वयं भी साम्राज्यवाद के रास्ते चलकर और अपनी नौसेना को बढ़ाकर अपना विनाश कर लिया था और इसकी बहुत बड़ी कीमत भी उसने चुकाई। उसी समय पूर्व की एक उदीयमान ताकत के रूप में उभरते हुए जापान ने महाशक्तियों का अनुकरण करना शुरू कर दिया और बड़ी मेहनत से जनकल्याण और कैदियों के प्रति बर्ताव और पंच-निर्णय से संबंधित योरोप के अंतर्राष्ट्रीय नियमों का अनुसरण करना शुरू कर दिया। जापान का मुख्य मकसद था, तथाकथित सभ्य महाशक्तियों के बीच अपनी जगह बनाना। सन् 1905 में जापान ने रूस को युद्ध में हराकर पश्चिमी दुनिया को झकझोर कर रख दिया। उसी मौके पर एक जापानी राजनयज्ञ ने घोषणा की, “हमने अपने-आपको यह साबित भी कर दिया है कि वैज्ञानिक हत्याकांड में भी हम कम से कम आप सबके बराबर तो हैं ही और अब आपके सामने मेज़ पर सभ्य लोगों की तरह बैठ भी सकते हैं।”

एक उदीयमान शक्ति के रूप में भारत की विदेश नीति इन सबसे बिल्कुल अलग थी और महाशक्तियों के बराबर बैठने के लिए और उनके समकक्ष होने के लिए उसने सत्ता के अर्थ को नये सिरे से परिभाषित करते हुए एक अलग रास्ता चुना। भारत की पहली पीढ़ी के नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ असहयोग का बेहद सफल आंदोलन चलाया और महान् नैतिक मूल्यों के आधार पर जनसंघर्ष का रास्ता अपनाया। उन्होंने महसूस किया था कि जिन मानकों के आधार पर वैश्विक रूप में देशों की हैसियत को आँका जाता है, उनका नैतिक आधार भी मज़बूत होना चाहिए।

भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति को इसलिए अपनाया क्योंकि वह शीतयुद्ध की राजनीति से अपने-आपको अलग रखना चाहता था। यह भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का ही एक अंग था। इसी नीति के अंतर्गत भारत बहुपक्षवाद का समर्थन करना चाहता था और यह मानता था कि ताकत का उपयोग अंतिम उपाय के रूप में तभी किया जाना चाहिए जब अन्य सभी उपाय कारगर सिद्ध न हों। सत्तर के दशक में भारत की विदेश नीति के यही मूल तत्व थे और तब से इनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

शीतयुद्ध के दौरान अपनी स्वायत्तता की नीति के परिप्रेक्ष्य में भारत के लिए अपनी हैसियत बनाये रखने का यही एक सही उपाय था, लेकिन पश्चिम को ऐसा लगता था कि गुट-निरपेक्षता की नीति की आड़ में भारत असल में धीरे-धीरे सोवियत संघ के अधिक नज़दीक आ रहा है, लेकिन भारतीय नेता सोवियत संघ के इरादों के प्रति हमेशा ही सचेत रहे और मास्को के बराबर के भागीदार से कम हैसियत उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की. यदि अमरीका और पश्चिमी योरोप व पूर्वी एशिया के मित्रदेशों के साथ भारत के संबंधों को देखें तो कोई भी उसे सोवियत संघ के गुट से जुड़ा देश नहीं मान सकता. यहाँ भी भारत ने महाशक्तियों के साथ प्रतीकात्मक बराबरी का संबंध बनाये रखा और रणनीतिक आवश्यकता की बाध्यताओं को देखते हुए अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का स्वतंत्र मार्ग अपनाने का भरसक प्रयास किया. यही लक्ष्य आर्थिक नीतियों के संदर्भ में भी बनाये रखे-हालांकि भारत को विदेशी सहायता और रक्षा संबंधी सप्लाई के लिए (कुछ समय तक तो दोनों ही महाशक्तियों पर) काफी हद तक निर्भर रहना पड़ा था. फिर भी भारत का हमेशा ही यह प्रयास रहा कि वह घरेलू औद्योगीकरण को बढ़ावा दे और आयात के बजाय रक्षा उपकरणों का स्वदेश में ही निर्माण करे.

शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद से अंतर्निहित प्राथमिकताओं के दबाव के कारण भारत की विदेश नीति के अंतर्विरोध बढ़ते चले गए. जब तक महाशक्तियों ने भारत को उसके अनुरूप हैसियत प्रदान नहीं की, तब तक भारत ने हैसियत और स्वायत्तता में संतुलन बनाये रखा. परंतु नब्बे के दशक के बाद भारत अपने लिए अंतर्राष्ट्रीय हैसियत बनाने में आसानी से सफल होने लगा है. उदाहरण के लिए जापान की तुलना में भारत बहुत कम निवेश से भी वैश्विक व्यवस्था में अपना स्थान बनाने में अधिक प्रभावी रहा है. भारत इस समय विश्व व्यापार संघ (WTO) और संयुक्त राष्ट्र (UN) के जलवायु परिवर्तन ढाँचे जैसे बहुपक्षीय संगठनों के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रभावशाली देशों के विभिन्न उच्चाधिकार प्राप्त समूहों का सदस्य बना हुआ है. अगर हम अमरीका और चीन को छोड़ भी दें तो भी इज़राइल से लेकर ईरान तक सभी देश नई दिल्ली के साथ साझीदारी करने के लिए सबसे अधिक उत्सुक हैं.

परंतु विश्व की महाशक्तियों से हैसियत पाने के बावजूद भी नई दिल्ली को सौदेबाजी के लिए कुछ खास मुद्दों पर अपनी पेशकश को विश्व के सामने रखना होगा, जैसे कार्बन उत्सर्जन और व्यापार की कम दरों के संबंध में उसका क्या योगदान रहेगा और विश्व में शांति और सुरक्षा बनाये रखने में उसकी क्या भूमिका रहेगी. प्रतिष्ठा के वैश्विक पदक्रम में भारत की हैसियत जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे ही अन्य देशों की भारत से अपेक्षाएँ भी बढ़ती जा रही हैं और वे उम्मीद करने लगे हैं कि जैसे शताब्दियों से सभी महाशक्तियाँ वैश्विक शासन-व्यवस्था में अपनी ज़िम्मेदारी निभाती रही हैं, वैसे ही भारत को भी आगे बढ़कर उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर ज़िम्मेदारियों का निर्वाह करना होगा. लेकिन भारत तो अपनी स्वायत्तता का राग अलापता रहा है और विश्व-राजनीति में तथाकथित “ज़िम्मेदार” देश के रूप में अपनी भूमिका निभाने से कतराता रहा है.

दार्शनिक तौर पर परंपरागत रूप में सतर्क और रक्षात्मक विदेश नीति अपनाने के कारण भारत को कनाडा और स्विट्ज़रलैंड के समूह में देखा जाता है, लेकिन भारत की महत्वाकांक्षाएँ तो उसे चीन और

अमरीका के समूह में रखने को प्रेरित करती हैं। आज की दुनिया में नई दिल्ली के नीति-निर्माता यह बखूबी समझने लगे हैं कि भारत या तो स्विट्ज़रलैंड की तरह अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकता है या फिर अमरीका की तरह। वह अलग-अलग भूमिका वाले दोनों देशों की तरह एक साथ नहीं रह सकता।

रोहन मुखर्जी प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग में डॉक्टरेट के प्रत्याशी हैं और टोक्यो के संयुक्त राष्ट्र विश्वविद्यालय में विज़िटिंग फ़ैलो हैं। उनसे rmukherj@princeton.edu पर संपर्क किया जा सकता है।

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@gmail.com> / मोबाइल : 91+9910029919.